International Journal of Education and Science Research Review
ISSN 2348-6457
www.ijesrr.org August- 2014, Volume-1, Issue-4 Email- editor@ijesrr.org

मुगलकाल में प्रचलित गायन शैलियाँ

डा0 गीता शर्मा
प्रवक्ता संगीत गायन
आई0एन0(पी0जी0) कॉलिज, मेरठ

मुगलों का आगमन संगीत कला के इतिहास का अति महत्वपूर्ण पृष्ठ है। मुगल शासकों ने संगीत को राजाश्रय प्रदान कर उसे विकास के लिए उच्चतम स्वपान तक पहुचायाँ, उसे संगीत के अहयेता विस्मृत नहीं कर सकते। मुगल–काल संगीत का स्वर्ण युग था। इस काल में भारतीय संस्कृति को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला व प्रगति हुई। विशेषकर अकबर से शाहजहाँ तक का काल ''1556–1658'' प्रगति के चर्मोत्कर्ष पर पहुॅच गया था। मुगलकाल में विभिन्न गायन शैलियों का स्वरूप देख्याने को मिलता हैं, जिसमें ख्याल, ध्रुपद, भजन, ठुमरी, गजल, दादरा, टप्पा, चतुरंग, तराना, होरी, त्रिवट, रागमाला आदि है। जिनका वर्णन इस प्रकार है–

ख्याल

राग के नियमों में ही इच्छानुसार अलाप–तान द्वारा विस्तार करते हुए जो गीत गाया जाता है उसे ख्याल कहते है।[1] फारसी भाषा के शब्द ख्याल का अर्थ है विचार अथवा कल्पना इसी अर्थ के अनुसार इस गीत में गायक अपनी कल्पना से विभिन्न प्रकार के स्वर समुदायों द्वारा गीत के शब्दों को अनेक प्रकार से गाता है। ख्यालों के गीतों में सुन्दरता मुख्य है। इसमें श्रृंगार रस का प्रयोग अधिक पाया जाता है। ख्याल की गायकी में जल्द–तान, गिटकरी इत्यादि का प्रयोग शोभा देता है और स्वर और चमत्कार पैदा करने के लिए ख्यालों में तरह–तरह की तानें ली जाती है। ख्याल गायन में ध्रुपद जैसी गम्भीरता और भक्ति रस जैसी शुद्धता नहीं पाई जाती।[2]

ठाकुर जयदेव सिंह ने साधारण गीति में भिन्ना के विशिष्ट प्रयोग से ख्याल की उत्पत्ति और विकास की बात कही है। किन्तु इतना अवश्य है कि मुगलकाल को ही ख्याल प्रवर्तन का गौरव प्राप्त हुआ था। आज भारतीय शास्त्रीय ज्ञान का मूल प्राण तत्व ख्याल ही है।[3] ख्याल शैली के तीन प्रकार प्रचलित हुए विलम्बित ख्याल, मध्यलय के ख्याल और द्रुत ख्याल। ख्याल के दो भाग होते है– स्थायी तथा अन्तरा। वैसे स्थायी, अन्तरा, संचारी राग का विकास करते समय किया जाता है। यह परम्परा ध्रुप्रद की विकास परम्परा के साथ विकसित होती चली गयी और अनेक अंग इस गायकी में समाहित होते चले गये। आलाप (नोम–तोम) और आकार द्वारा स्थायी का आलाप, बोल आलाप, अन्तरा का आलाप, संचारी का आलाप, आभोग के आलाप, बोल आलाप, बहलावा, बोलतान, तान, सरगम, अलंकार गमक तथा मींड आदि। इन अंगों के प्रयोग गत भेदों के आधार पर इस शैली का विकास उत्तर मुगलकाल से आरम्भ हो गया था।[3]

ख्याल दो प्रकार के होते है :– 1. विलम्बित ख्याल अथवा बडा ख्याल
2. द्रुत ख्याल अथवा छोटा ख्याल

1. **विलम्बित ख्याल**:– जो ख्याल धीमी अर्थात विलम्बित लय में गाये जाते है। विलम्बित ख्याल कहलाते है। इन्हीं को बडा अथवा कलावन्ती ख्याल कहते हैं।
2. **छोटा ख्याल** :– मध्य अथवा द्रुत लय में गाए जाने वाले ख्याल छोटे ख्याल कहलाते है। इन्हें कव्वाली ख्याल या द्रुत ख्याल भी कहते है। क्योंकि अमीर खुसरों ने कव्वाली के आधार पर इनकी रचना की थी। बडे ख्याल तथा छोटे ख्याल में प्रमुख अन्तर लय की गति का है। बडा ख्याल धीमी लय में होता है। जबकि छोटा ख्याल द्रुतगति में। इसके साथ ही दोनों गीत प्रकारों की शैली में भी अन्तर है।[4] बडे ख्याल के समान छोटे ख्याल के अविष्कार के विषय में भी कुछ मतभेद है। कई विद्वानों का मत है कि इसका अविष्कार अमीर खुसरों के समय में हुआ था।

ध्रुप्रद

उत्तर भारत का मध्यकालीन गीत जिसमें गम्भीरता तथा भाषा की प्रौढता होत है, ध्रुप्रद कहलाता है। आचार्य बृहस्पति द्वारा लिखित संगीत चिन्तामणी के अनुसार ''मानसिंह ने प्रसिद्ध ध्रुवप्रद पद्धति को जन्म दिया।' उसके दरबारी गायक बख्श ने इसका प्रचार और प्रसार किया। यह गान पद्धति जनता के प्रत्येक वर्ग के लिए रूचिकर सिद्ध हुई। इस समय से लेकर औरंगजेब के समय तक इस गीति पद्धति का ही बोलबाला रहा। इस काल में बैजू, बख्श, चिन्तामणी मिश्र तथा श्रेष्ठ कलाकार तानसेन ध्रुप्रद गायक ही थे। जिन्होंने बहुसंख्य ध्रुप्रदों की रचना की।[5] यह एक शब्द प्रधान गीत होता है। इसकी भाषा उच्च तथा भावयुक्त होती है तथा इसकी कविता बडी तथा साहित्यिक होती है। इसमें

वीर श्रृंगार, शांति इत्यादि रसों की प्रधानता रहती है। अर्थपूर्ण कविता, उचित रस, शब्द स्वर तथा ताल की शुद्धता के कारण ध्रुप्रद गीत उच्च स्तर का गीत माना जाता है।

ध्रुप्रद में स्थाई, अन्तरा, संचारी, आभोग, ये चार भाग होते है। इन्हीं को प्राचीन काल में उद्ग्राह, ध्रुव, आभोग तथा ध्रुवपद कहा जाता था। प्रत्येक भाग में चार–2 अथवा तीन–2 पंक्तियाँ होती थी। जिनमें अत्यानुप्रास तथा चार चरण भी होते थे। आजकल ध्रुप्रदों में स्थाई तथा अन्तरा दो ही भाग दिखाई देते है और यही गाये जाते है।

ध्रुप्रद गीत की गायन शैली मधुर या कोमल न होकर गम्भीर होती है। इसके गाने में पर्याप्त शक्ति की आवश्यकता होती है। ध्रुपद गाने से फेफडों पर बहुत जोर पडता है। इसलिए इसे ''मर्दाना गायन'' कहते हैं। गम्भीर रागों में ध्रुप्रद अधिक मिलते है। काफी झिझोंटि, पीलू आदि चंचल प्रकृति के रागों में ध्रुप्रद नहीं दिखाई देते। ध्रुप्रद गीत चार ताल, सूलताल, तीव्रा आदि तालों में गाये जाते है। ब्रह्म, मत्त, रूद्र आदि में भी ध्रुप्रद होते हैं। किन्तु चार ताल के ही ध्रुप्रद सर्वाधिक प्रचलित है। ये सभी ताल पखावज या मृदंग की ताल है। किन्तु मृदंग का प्रचार कम हो जाने के कारण तबले पर ही खुले बोलों द्वारा यह ताल बजाकर ध्रुप्रद की संगत की जाती है। यह गीत विलम्बित लय में ही गया जाता है।

ध्रुप्रद गायन शैलियाँ पाँच थी। जिन्हें गीति कहते थे। गायन शैलियों के आधार पर ध्रुप्रद गायकों की विभिन्न बानियाँ बनी। अतः बानी से गायन शैली का बोध होता है।

बानियाँ चार थी :– 1.गोबरहार बानी 2. डागुर बानी 3. खंडहार बानी 4. नौहार बानी

भजन

भगवद्गीता अथवा भगवान का गुणगान करने वाले गीत, भजन अथवा पद कहलाते है। अर्थात भगवान की मधुर लीलाओं का वर्णन एवं उनसे प्रेम अभिव्यक्त करने वाले पदों को भजन कहते है।

भजन गायन परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भजन से आशय जिसे भेजा जाता है अर्थात उपास्य की स्तुति स्मरण तथा कीर्तन किया जाता है। प्राचीन कीर्तन से इसका विकास हुआ है। सगुण भक्ति परम्परा का एक अनिवार्य अंग होने के कारण ईशस्तुति इसका विषय होता है। सगुण और निर्गुण सम्प्रादायों के भक्त संतों द्वारा पद शैली में भजनों की रचना की। प्रायः ब्रज में अष्टछाप के भक्तों जिनमें सूरदास अन्यतम है, ब्रज, राजस्थानी, गुजराती में मीरा के पंजाबी, हिन्दी में नानक के, अवधि में तुलसी के, मैथिली में विद्यापति के, मिश्र हिन्दी में कबीर के, बंगला में चंडीदास और गौडीय सम्प्रदाय के भक्तों के भजन प्रसिद्व है। अतः यह कहना स्वीकार करना चाहिए कि कीर्तन परम्परा में ही भजन के शास्त्रीय संगीत के मूल बीज हैं। कीर्तन तो वस्तुत वल्लभ सम्प्रदाय की कृष्ण भक्ति परम्परा से ही शास्त्रीय संगीत की पद शैली में परिणत हुआ। चैतन्य की परम्परा में भावावेग की तीव्रता में जो भक्ति परक अभिव्यक्तियाँ हुई वे शास्त्रीय संगीत तत्वों से विलग लोकगीतात्मक तत्वों से आपूरित थी।[6]

यह गीत प्रकार शब्द प्रधान तथा अर्थ प्रधान होता है। इसके अन्तरे के कई चरण होते है। भजन गायन के लिए ढोलक, मंजीरा, करताल आदि का प्रयोग संगीत के लिए किया जाता है। वर्तमान समय में हारमोनियम एवं तबला भी संगत करने में प्रयुक्त होते है। भजन अधिकतर कहरवा, धुमाली, रूपक, दादरा आदि ताल में गाए जाते है।[7]

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भजन एवं पदों का प्रचार एवं प्रसार मुगलकाल में बहुत अधिक हुआ। इस काल में अनेक भक्त कवि हुए। जैसे चैतन्य महाप्रभु, मीराबाई, सूरदास आदि। इन सभी भक्त कवियों ने अपने इष्ट देवों को प्रसन्न करने के लिए संगीत का सहारा लिया। उन्होंने अनेक पदों की रचना की जो संगीतमय ह। इन्होंने संगीत को ईश्वर प्राप्ति का महत्वपूर्ण साधन बताया और समाज में घूम–घूम कर भक्ति संगीत धारा को प्रवाहित किया। इसी काल में अनेक धर्म का प्रचार बढा एवं सभी धर्मो के संस्थापकों ने अपने धर्म का प्रचार भक्ति संगीत के माध्यम से ही किया। इन भक्त कवियां में मीराबाई, तुलसीदास, सूरदास आदि को उच्च स्थान प्राप्त है। मीराबाई गायन एवं नृत्य में निपुण थी। बाल्यावस्था से ही वे कृष्ण भक्त थी। उन्होंने अनेक पदों की रचना की जो आज भी भजन के रूप में प्रचलित है।[8]

ठुमरी

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के अनेक हस्तलिखित एवं प्रकाशित ग्रन्थों में ठुमरी का उल्लेख नहीं मिलता। जिन रागों में टप्पे होते हैं। प्रायः उन्हीं रागों में ठुमरी होती है। ठुमरी में पंजाबी, अद्धाताल का प्रयोग अधिक किया जाता

है। ऐसा प्रसिद्ध इतिहासकार बैनर्जी का कथन है। ''संगीत सार'' नामक ग्रन्थ के अनुसार ठुमरी की उत्पत्ति शोरीमियाँ से हुई है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि यह बात किस सीमा तक विश्वसीनय है।

श्रृंगार रस का भाव प्रधान गीत, जिसमें राग की शुद्धता की अपेक्षा रस तथा भावभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है, ठुमरी कहलाता है। ठुमरी को कुछ लोग ठम्बरी भी कहते है।[9]

ठुमरी केवल श्रृंगार रस की ही होती है। यह हल्के–फुल्के रागों में गाई जाती है। जिसमें म और प स्वरों का प्राबल्य होता है। शारंगदेव के मतानुसार प्रेम सम्बन्धी भावों के लिए जिन श्रुतियों का प्रयोग बताया गया है। वह सब श्रुतियाँ इन्हीं स्वरों के अन्तर्गत आती है। बोल–बनाव ठुमरी का प्राण है। बोल–बनाव वह कला है जिसके द्वारा शब्द या शब्दों से निकल सकने वाले अधिकतम भावों को सांगीतिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

स्व0 पं0 भातखंडे ने ठुमरी के विषय में लिखा है। ठुमरी को क्षुद्र गीत ही माना जाता है। उच्चकोटि के गायक ठुमरी गायन को निम्न कोटि का मानते है। बडी संगीत सभाओं में प्रसिद्ध गायक ठुमरी नहीं गाते। उत्तर भारत की ओर संगीत व्यवसायी स्त्रियाँ ही प्रायः ठुमरी गाती है। ठुमरी गायन क्षुद्र भले ही हो, किन्तु वह बहुत लोकप्रिय है। ठुमरी को अर्द्धशास्त्रीय गायन शैली कहा जाता है। इसमें शब्द तो कम होते है, किन्तु शब्दों को हाव–भाव द्वारा बताकर गीत का अर्थ प्रकट करना ठुमरी गायन की विशेषता मानी जाती है। ठुमरी का जन्म लखनऊ के नवाबों के दरबार में हुआ। कहा जाता है कि इसके अविष्कारक गुलामनबी शोरी के घराने के ही लोग ही थे। ठुमरी अधिकतर पंजाबी त्रिताल में ही गाई जाती है। इसकी गति अतिद्रुत नहीं होती।[10]

ठुमरी की गायन शैली श्रृंगारात्मक और चंचल प्रकृति की है। कत्थक नृत्य के साथ इसका गायन किया जाता है। यह खमाज, पीलू, माँड, काफी पहाड़ी, भैरवी, तिलंग आदि रागों में अधिकतर गाई जाती है। कुछ गायक बीच–2 में जोग, कलावती, बिहाग, हंसध्वनि आदि की छाया दिखाते है। जिसमें गायन सम्बन्धी कुशलता अपेक्षित रहती है और गायन की मधुरता भी बढ़ जाती है। गम्भीर प्रकृति के राग जैसे दरबारी मल्हार, हिंडोल, भैरव आदि गम्भीर रागों का प्रयोग ठुमरी में नहीं किया जाता।[11] ठुमरी में अधिकांश दीपचंदी, चाचर, पंजाबी, आडा, तीनताल, दादरा–कहरवा आदि तालों में गाई जाती है। दादरा तथा कहरवा हल्की गायन शैली के साथ, स्वरों, शब्दों तथा लय आदि की दृष्टि से ठुमरी से उनका साम्य भी कुछ बैठता है।

गजल

गायकी के रूप में गजल भी 19वीं शताब्दी के मध्य में ही लोकप्रिय हुई और अवध के नवाब वाजिद अली शाह की रंगीन रूचियों से इसे बहुत प्रश्रय मिला। उ0 फैय्याज खाँ भी गजल गाते थे। अभिप्राय यह है कि गजल गायकी को कुछ प्रख्यात संगीतज्ञों ने भी अपनाया गजलों को महसूस करके गाना और उसके चिन्तन का साफ इलकना गजल गायकी की महत्वपूर्ण पहचान है।[12]

गजल ईरानी संगीत से आया हुआ गीत है। यह फारसी षब्द है। यह वस्तुतः फारसी लोकसंगीत से विकसित हुई गीत षैली है। जिसका आरम्भ में प्रचार एवं प्रवर्तन अरब मिस्र तथा भारत में हुआ। गजल तथा कव्वाली को सूफियों ने अपने मत का प्रचार करने का माध्यम बनाया और भारत में 13वीं षताब्दी के षेख मुईनुद्दीन चिष्ती ने इसका प्रचार तथा प्रवर्तन करने का श्रेय प्राप्त किया। खिलजी तथा तुगलक काल में प्रसिद्ध व्यक्तित्व अमीर खुसरों ने स्वयं भी गजलों तथा कव्वालियों की रचना की तथा सूफी गायकों तथा सन्तों की रूचि के अनुसार उनका प्रचार तथा प्रसार भी किया। गजल पाँच मात्रा के रूपक या सात मात्रा के गजल ताल में गायी जाती है। कुछ लोग स्थायी तथा अन्तरा के बीच मूल गीत को रोककर कुछ षेर गाते है और फिर स्थान विषेष पर पुनः ताल पकड़ लेते हैं।

अमीर खुसरों स्वयं गजलों की रचना करते थे तथा उनका गायन करने में भी वे निपुण थे। गजल की रचना विविध छन्दों (षेरों) में होती है। जिसे बहर कहते है। गजल का पहला षेर स्थाई होता है और शेष अन्तरा होते है। ठुमरी के समान ही हल्के रागों का प्रयोग गजल में होता है। जैसे– देस, खमाज, तथा भैरवी आदि। गजल में राग की शुद्धता से भावों के प्रवर्तन को अधिक ध्यान में रखा जाता है और पश्तों, रूपक, कहरवा तथा दादरा जैसे तालों का विशेषतः प्रयोग होता है। शास्त्रीय संगीत के गायक भी गजल गाने में कभी–कभी प्रवृत्त होते है। क्योंकि इसका भी अर्द्धशास्त्रीय रूप तो होता ही है।[13]

गजलों की भाषा प्रायः उर्दू होती थी। उर्दू को तुर्की भाषा में लश्कर या छावनी भी कहते है। इस प्रकार गजल का भी लगभग 600–650 वर्ष का इतिहास रहा है। आजकल गजल गायन का प्रचलन अधिक बल पकड़ता जा रहा है क्योंकि गजल सूफियों के सभाओं से अधिक दरबारों में भी गई जाने लगी थी।

दादरा

उपशास्त्रीय संगीत की विद्या है दादरा। ठुमरी व दादरा में इतना समीप का सम्बन्ध है कि दादरा का नाम लेते ही ठुमरी का स्वरूप मस्तिष्क में आ जाता है। ठुमरो अंग से गाया जाने वाला दादरा ठुमरी के समान ही भावुकता में डूबा हुआ होता है। अतः दादरा एक उपशैली है, जिसका स्थान ठुमरी के समकक्ष ही है। यह अधिकांशतः दादरा ताल में ही गाया जाता है। यह बोल बनाव में विलम्बित ठुमरी के निकट और लय में कुछ तेज होने के कारण द्रुत ठुमरी के कुछ अधिक निकट आ जाता है। यह भी ठुमरी की भाति नृत्य के साथ गाया जाता था। नृत्य से आंगिक अभिनय द्वारा जो भाव व्यक्त होते थे उन भावों को शब्दों से व्यक्त करने के लिए वैसे ही श्रृगारिक शब्दों का प्रयोग किया गया। जिस कारण ही इन्हें श्रृंगारिक गीत कहा गया, भातखंडे ने भी इसे क्षुद्र प्रकृति का कहा है। इस गायन शैली का प्रचार ब्रिटिश काल में विपुल रूप से हुआ।[14]

दादरा का जन्म लोक गीतों से हुआ। शास्त्रीय संगीतज्ञों ने जब लोकगीतों को शास्त्रीय ठुमरी अंग से दादरा ताल में गाना आरम्भ किया तो उस ताल के नाम पर ही दादरा गायन प्रसिद्ध हो गया इसमें भी राग की शुद्धता की अपेक्षा उसके रंजक तत्व की ओर ही अधिक बल दिया जाता है। अतः इसमें भी कई रागों का मिश्रण करके ही गाया जाता है। दादरा का गायन कलाकार की प्रतिभा, भावुकता, तबीयत की रंगीनी, कंठ के सुरीलेपन दिल व दिमाग के स्फुरण और कल्पना शक्ति पर निर्भर करता है। भैरवी, खमाज, पीलू, काफी, पहाड़ी, देस, तिलक, कामोद, झिंझोटी, मांड, गारा, खम्बावती आदि रागों में गाया जाता है। दादरा गायन में रसूलन बाई, सिद्धेश्वरी, बन्देहसन नाहन वाले और उस्ताद फैयाज खाँ, अखतरो बाई आदि ने अच्छी ख्याति अर्जित की। ठुमरी विशेषज्ञ ही दादरा अधिक गाते हैं।

टप्पा

यह एक अर्द्धशास्त्रीय संगीत शैली है। ठुमरी के समान ही हल्की प्रकृति के राग टप्पे में भी प्रयुक्त होते हैं। टप्पा का अविष्कार शोरी मियाँ ने किया था। क्षुद्र तथा चंचल प्रकृति का श्रृंगार रस–प्रधान गीत जो अधिकतर पंजाबी भाषा में होता है और छोटी–छोटी तानों के साथ गाया जाता है, टप्पा कहलाता है।[15] टप्पा के अविष्कार के विषय में कई मत है। पं0 भातखंडे के अनुसार कई विद्वानों का ऐसा भी मत है कि प्राचीन ''वेसरा'' गीति से टप्पा गायकी की उत्पत्ति हुई।

आचार्य बृहस्पति लिखते है कि पंजाबी भाषा में टपना का अर्थ कूदकर या लांघकर जाना है। इस क्रिया की प्रधानता के कारण इस शैली का नाम टप्पा रखा गया, नवाब आसिफुद्दौला के समय में लखनऊ में शोरी मियाँ का नाम बहुत अधिक प्रसिद्ध हो गया था। सरशार नामक एक व्यक्ति ने जो वाजिद अली शाह के समय में हुआ था। शोरी की शैली से भिन्न टप्पों की रचना की थी। वह दारी जाति के थे और उस समय सम्मीखाँ दारी और छज्जू खाँ दारी भी अच्छे टप्पा गायक थे। शोरी के शिष्य बाबू राम सहाय कुशल टप्पा गायकों और नवाब हुसन खाँ भी टप्पा गायन में प्रसिद्ध थे।

टप्पे का लोकगीत रूप पंजाब में ऊँट पर सवार होकर चलने वाले एक कबीले के गीत के रूप में प्रचलित हुआ। जो बाद में गायन शैली का एक रूप बन गया। इस गायन शैली में तान का बहुत प्रयोग होता है। शब्दों के स्वर अक्षरों को भी तान के आधार पर व्यक्त किया जाता है। ताने दानेदार खटके तथा मुर्की आदि से युक्त होती है। यदि देखा जाए तो मुर्की, टप्पा गायन शैली की मुख्य विशेषता है।

पंजाबी का मिश्रण इसके गीतों की भाषा में होता है। एक स्थायी और एक अन्तरा का गायन इसमें ख्याल या ठुमरी के समान गाना होता है। इसमें तानों का बिखराव सा रहता है। यह चंचल प्रकृति की गायन शैली है। एक प्रकार से द्रुत ख्याल और ठुमरी का मिश्रित रूप भी इसमें देखा जा सकता है। यद्यपि इसमें शास्त्रीय नियमों का बन्धन शिथिल रहता है। किन्तु इसका गायन सरल नहीं होता। यदि देखा जाए तो इस शैली के गायन के लिए गले को इसी के लिए अभ्यस्त करना पडता है। यह एक चमत्कार प्रधान शैली है जिसका प्रवर्तन उत्तर मुगलकाल में हुआ था।[16]

चतुरंग

ख्याल या गीत, तराने के बोल, सरगम तथा मृदंग की परन, इन चारों से रचा हुआ गीत चतुरंग कहलाता है। चतुः+अंग अर्थात चार अंगों से बना हुआ गीत।[17] चतुरंग शास्त्रीय संगीत की एक विशिष्ट विधा है। पहले चरण में

राग की कविता के शब्द ख्याल अंग से तो, दूसरे चरण में तराने के अर्थहीन किन्तु राग ध्वनि व्यंजक शब्द रहते है, तीसरे चरण में सरगम का लघु उसी राग विशेष में गाया जाता है। अन्तिम चरण में मृदंग तथा पखावल के बोलों का प्रयोग किया जाता है। इस गीत की गति मध्यलय से आरम्भ कर द्रुत लय में समाप्त की जाती है। विद्वानों का मत है कि चतुरंग गीत प्रकार प्राचीन नहीं, आधुनिक है। सरगम पुस्तक के लेखकों का मत है कि ''सम्भवतः तीन, चार प्रकार की शैलिया एक बंदिश में बांधकर शिष्यों को बताने के लिए ही संगीत पण्डितों ने चतुरंग का अविष्कार किया होगा।'' इस गीत में स्थाई, अनतरा, संचारी तथा आभोग चारों भाग होते है। इसकी रचना छोटी नहीं होती।

चतुरंग तराने के समान ही गाया जाता है। इसकी लय द्रुत ही रहती है। ख्याल के समान इसमें अलाप नहीं होता और न ही ध्रुप्रद–धमार के समान इसमें दुगुन व चौगुन ही होती है। कलाकार इसमें ताने अवश्य लेते है। यह तानें ख्याल के समान लम्बी–2 नहीं अपितु छोटी–छोटी ही होती है। यह तानें थोडे ही परिमाण में होती है। चतुरंग गीत को ख्याल गायक ही गाते है। आजकल चतुरंग कम ही सुनाई देता है। चतुरंग भाव–प्रधान नहीं अपितु चमत्कार प्रधान गीत है।[18]

तराना

फारसी के तरानः शब्द का अपभ्रंश है ''तराना'' जिसका अर्थ है धुन, तर्ज व नगमा' छोटे ख्याल के समान द्रुत लय में गाया जाने वाला ''तन देरे ना'' आदि निरर्थक शब्दों का गीत तराना कहलाता है।[19] श्री तुलसीराम देवांगन तराना शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते है– ताराना शब्द फारसी भाषा का है जिसका अर्थ होता है गाना, नगमा। इस गीत के अविष्कार के विषय में कई मत है। संगीत विशारद (हाथरस) के लेखक भी बसंत लिखते है– कहा जाता है कि अमीर खुसरो जब हिन्दुस्तान आए तो यहाँ कि संस्कृत भाषा को देखकर वे घबराए क्योंक वे अरबी के विद्वान थे। अतः उन्होंने निरर्थक शब्द गाकर तरह–तरह के हिन्दुस्तानी राग गए। वे निरर्थक शब्द ही तराना नाम से प्रसिद्ध हए। तराने में राग ताल और लय का आनन्द है। शब्दों की ओर कोई ध्यान नहीं देता। तरानों का गायन हमारे देश में मनोरंजक माना जाता है। बहादुर हुसैन खाँ, नत्थू खाँ इत्यादि के तराने प्रसिद्ध है।

कई विद्वानों का मत है कि उर्दू तथा फारसी भाषा भाषी भाईयो को हिन्दी भाषा के अनुसार जिहवा को चपलतापूर्वक घुमाना कठिन प्रतीत हुआ। अतः तराने का अविष्कार हुआ। जबकि अन्य कुछ विद्वानों के अनुसार इन निरर्थक दिखाई पडने वाले शब्दों का भी कुछ अर्थ है, जो भी हो, इन्हे निरर्थक ही माना जाता है। तराना प्रायः उन सभी रागों में होता है, जिनमें छोटा ख्याल होता है। यह त्रिताल, द्रुत, एकताल आदि छोटे ख्याल की तालों में ही निबद्ध रहता है। कुछ तराने विलम्बित तालों में भी दिखाई देते है। किन्तु इनका प्रचार नहीं है। वास्तव में तराना द्रुत गति का ही गीत है और वह उसी में सुन्दर लगता है। तराने बहुधा छोटे ख्याल के बाद गाते है। इसका गायन द्रुत लय में होने के कारण इसमें अलाप नहीं हो पाता, केवल द्रुत तानें ही होती है। कुछ लोग तराने के शब्दों को लेते हुए ''त न न न'' ''तोम तन'' अथवा ''दीम दीम्'' इन शब्दों के सहारे एक रौ सी बाँध देते है। द्रुत लय में यह कार्य बहुत सुन्दर लगता है। इस गीत में बोल तथा ताने लेने के लिए जिहवा एवं गाने की तैयारी की आवश्यकता होती है। तराना लय प्रधान गीत होने के कारण गायन के अन्त में शोभा देता है। इसके गाने से विभिन्न शब्दों को स्पष्ट रूप और जल्दी–जल्दो गाने का अभ्यास हो जाता है। गायक का स्वर राग एवं गले का पूर्ण अधिकार होने पर तराना बहुत मनोहर लगता है। आजकल के सभी ख्याल गायक तराना भी भली–भाँति गाते हैं।[20]

होली

होली उत्सव सम्बन्धी, तबलों की तालों में ठुमरी की भाँति गाया जाने वाला गीत होली अथवा होली का गीत कहलाता है।[21] सामाजिक भेद–भाव को मिटा देने वाला यह त्यौहार मुगलकाल में बड़े उल्लास से मनाया जाता रहा है। होली के अवसर पर गाई जाने वाली यह होली गायन के अन्तिम भाग में बोल–बनाव करते समय लय बढा दी जाती है। कुछ होलियाँ कहरवा तथा दादरा तालों में भी होती है। इस गीत को साधारण गायक भी गाते है। फिर भी अच्छी होली गा लेना सरल नहीं है। इसे ठुमरी की भाँति गाते है। धमार के समान दुगुन आदि इसमें नहीं की जाती और न ख्याल के समान बडे अलाप तान ही लेते है। ठुमरी के समान छोटे–छोटे अलाप या बोल अलाप इसमें अधिक लिए जाते है। तान लेते भी है तो अति संक्षिप्त है। कुछ होली गायक अन्तरे को दुगुन लय में उठाकर अन्तिम पंक्ति को समान लय में मिला लेते हैं।

होली धमार से काफी बड़ा होता है। इसमें दो–तीन या अधिक अन्तरे होते है। होली गीत बृजभाषा में अधिक होता है। अवधी और भोजपुरी भाषा में कतिपय होलियाँ दिखाइ देती है। गीतों में राधा और कृष्ण, गोपियाँ और कहीं–2 शिवजी का होली खेलने का चित्रण मिलता है। ब्रज होली तो प्रसिद्ध ही है। अतः इसका वर्णन होलियों में मिलता है। इसके भाव तथा भाषा बिल्कुल सीधी–सादी होती है।

होली गीत अधिकतर काफी राग में होते है और वह भी एक विशिष्ट धुन में। श्रीयुत भगवत शरण शर्मा लिखते है ''काफी राग में होली की धुन इतनी लोकप्रिय बन चुकी है कि उसे सुनते ही श्रोता तुरन्त कह उठते है कि यह होली है। कहीं–2 खमाज, पीलू या अन्य रागों में भी होली दिखाई देती है। प्रायः सदैव ही यह चाचर या दीपचंदी ताल में होती है।[22]

त्रिवट

मृदंग अथवा तबले के बोलों को किसी भी राग में तथा ताल में बाँधकर गाया जाने वाला गीत त्रिवट अथवा तिरवट कहलाता है।[23] इसका अविष्कार कब और कैसे हुआ, यह ठीक–2 तो नहीं कहा जा सकता, कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। चतुरंग सरगम, तराना, धमार तथा यह त्रिवट भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। त्रिवट की रचना छोटे ख्याल के समान बहुत संक्षिप्त होती है न की बहुत बडी होती। इसमें स्थाई व अन्तरा दो भाग होते है। गीत में केवल मृदंग के बोलों का ही समावेश होता है। त्रिवट सभी रागों में होता है। यह एक ताल, झपताल या त्रिताल आदि तालों में निबद्ध होते है।[24]

त्रिवट, तराने के समान ही गाया जाता है। इसमें भी अलाप नहीं होते। ताने भी केवल कुछ लोग ही गाते है। वह भी थोडी ही लय द्रुत रहती है। इसमें दुगुन अथवा चौगुन नहीं ली जाती। प्रचार में त्रिवट गीत बहुत कम दिखाई देती है। इसके शब्द कठिन होने के कारण इसे याद करने में तथा गाने में कठिनाई का अनुभव होता है। त्रिवट गीत चमत्कारपूर्ण गीत है। इसे ख्याल गायक ही गाते है। इस गाने के लिए निरन्तर अभ्यास करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः नवीन विद्यार्थी के लिए इसे गा लेना प्रायः असम्भव ही है।

रागमाला

जब किसी गीत रचना को ऐसी शैली में गाया जाये कि अनेक रागों की छाया उसमें झलकती रहे तब ऐसी रचना को रागमाला या राग सागर कहते है। रागमाला नाम से ही स्पष्ट है कि यह राग की माला है। अतः इस गीत में विभिन्न राग रूपी पुष्पों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार किया जाता है। इसका आरम्भ किसी राग में ठुमरी शैली से किया जाता है और गीत के मध्य में भिन्न रागों की छाया दिखाई जाती है। इस प्रकार विभिन्न रागों का छायाक्रम इसमें चलता रहता है या इसकी रचना ही इस प्रकार गठित की जाती है कि उसमें भिन्न–2 राग प्रतिभासित होते चले जाए। एक अन्य रूप में इसका आरम्भ किसी राग विशेष से किया जाता है और फिर गायक उसी लय में दूसरे किसी राग का प्रदर्शन करने लगता है। यह प्रक्रिया बार–बार चलती है और प्रत्येक बार नवीन राग का प्रदर्शन उसी लय में किया जाता है। मुगलकाल में रागमाला के कई रूप थे।[25] इसकी रचना मुख्य रूप से रागों के नामों के द्वारा ही की जाती है। यह गीत बहुत बडा नहीं होता। अधिकतर इसके स्थाई तथा अन्तरा दो ही भाग होते है। प्रत्येक भाग प्रायः दो–दो पंक्तियों का होता है। राग–माला त्रिताल, एकताल, झपताल, आदि तालों में निबद्ध होती है।[26]

इसकी गायकी लगभग छोटे ख्याल के समान होती है। इसे मध्यलय में गाते है। गीत के शब्द गाते हुए उसी राग के अलाप लेते है। एक राग के बाद दूसरा राग ऐसे स्वर स्थान से बदलते है जो दोनों रागों में समान रूप में है। यह कार्य बहुत कठिन होता है। क्योंकि एक राग गाते–2 दूसरा राग पूर्ण शुद्धता तथा आकर्षक रूप में गा लेना हंसी–खेल नहीं। इसके लिए स्वर तथा राग पर आधिपत्य, दक्षता तथा अभ्यास अत्यन्त आवश्यक होता है। यही कारण है कि यह अधिक प्रचार में नहीं है। तथा इसे केवल बडे गुणी तथा ऊँचे कलाकार ही गाते है।

संदर्भ सूची

1. हमारा संगीत (सौ0सुमन पाटणकर) पृ0सं0 83
2. हमारा संगीत – चन्द्रकान्त पाटणकर पृ0सं0 84
3. ख्याल शैली का विकास (मधुबाला सक्सैना) पृ0 सं0 154
4. हमारा संगीत – चन्द्रकान्त पाटणकर पृ0 सं0 84
5. हमारा संगीत (एल0सी0पाटणकर) पृ0 86
6. संगीत चिन्तामणि (आर्चाय बृहस्पति) पृ0 51–52
7. हमारा संगीत – चन्द्रकान्त पाटणकर पृ0 सं0 82
8. ब्रज की लीलाओं का इतिहास (प्रभु दयाल मित्तल) पृ0 सं0 122
9. ब्रज की लीलाओं का इतिहास (प्रभु दयाल मित्तल) पृ0 सं0 123
10. हमारा संगीत – सुमन पाटणकर पृ0 सं0 89
11. हमारा संगीत – सुमन पाटणकर पृ0 सं0 90
12. मुगलकालीन गायन शैलियों का उद्गम एव विकास डा0 आशा पाण्डे पृ0सं0 122
13. मुगलकालीन गायन शैलियों का उद्गम एव विकास डा0 आशा पाण्डे पृ0सं0 105

14. ठुमरी की उत्पत्ति विकास एवं शैलियाँ शत्रुध्न शुक्ल पृ0सं0 275
15. ठुमरी की उत्पत्ति विकास एवं शैलियाँ शत्रुध्न शुक्ल पृ0सं0 277
16. मुगलकालीन गायन शैलियों का उद्‌गम एव विकास डा0 आशा पाण्डे पृ0सं0 135
17. संगीत मिमांसा पृ0सं0 292
18. हमारा संगीत – एल0सी0 पाटणकर पृ0 सं0 90
19. हमारा संगीत – एल0सी0 पाटणकर पृ0 सं0 91
20. मुगलकालीन गायन शैलियों का उद्‌गम एव विकास डा0 आशा पाण्डे पृ0सं0 128
21. हमारा संगीत – सुमन पाटणकर पृ0 सं0 95
22. मुगलकालीन गायन शैलियों का उद्‌गम एव विकास डा0 आशा पाण्डे पृ0सं0 104
23. हमारा संगीत – सुमन पाटणकर पृ0 सं0 87
24. संगीत तराना विशेषांक तुल्सई राय देवांगन पृ0 सं0 18
25. ब्रज की कलाओं का इतिहास प्रभुदयाल मित्तल पृ0सं0 122
26. हमारा संगीत (एल0सी0पाटणकर) पृ0 94,95,97